ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 PP. NO.- 88-91

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-II, Issues-17, YEAR- Sept. -2020

इक्कीसवीं सदी के हिंदी सिनेमा में स्त्री–अस्मिता के निहितार्थ

विजयलक्ष्मी पाण्डेय
दिल्ली विश्वविद्यालय से हिंदी सिनेमा पर एम.फिल., पी–एच.डी.– हिन्दी विभाग, (दिल्ली), भारत

Received- 03.08.2020, Revised- 07.08.2020, Accepted - 10.08.2020 E-mail: - vijya500@gmail.com

सारांश : ***"By now,a younger generation of women participate in extremely lively debates in which questions of gender, sexuality and representation on screens and across media are approached from perspectives that had not yet been articulated in the 1970s."***

- Laura Mulvey, Visual Pleasure and Narrative Cinema

(अब, महिलाओं की एक युवा पीढ़ी लिंग और कामुकता संबंधी बेहद जीवंत बहस में भाग लेती स्क्रीन और मीडिया पर प्रतिनिधित्व करती प्रसारित होती है, जबकि 1970 के दशक तक इस तरह के .ष्टिकोणों से उनका संपर्क नहीं था, उन्हें तब इस तरह प्रस्तावित नहीं किया जाता था।)

कुंजीभूत शब्द– युवा पीढ़ी, लिंग, कामुकता, जीवंत बहस, स्क्रीन और मीडिया, प्रतिनिधित्व, प्रसारित, दृष्टिकोण।

स्त्री–अस्मिता से जुड़ी बहसें और संवाद हिंदी फिल्मों में सदा से ही जगह पाते रहे हैं, लेकिन उनका सतत और स्थायी प्रतिनिधित्व तथा केंद्रीय महत्व हमें इक्कीसवीं सदी की हिंदी फिल्मों में ही देखने को मिलता है। साहित्य ही नहीं, रंगमंच और सिनेमा सरीखे प्रदर्शनकारी कला–माध्यमों पर भी अपने को सामाजिक और गंभीर दिखाने के लिए यह अनिवार्य कि उनकी स्त्री–दृष्टि प्रगतिशील और आधुनिक है।

वह जिसे समाज में राजनीतिक रूप से सही होना कहा जाता है, अब सारी कलाओं में एक मूल्य की तरह स्थापित है नतीजन समाज में बौद्धिक, प्रगतिशील, गंभीर और आधुनिक कला के लिए यह अनिवार्य है कि उसकी स्त्री–दृष्टि स्त्री की रूढ़ छवियों को प्रोत्साहन या बढ़ावा न देती हो, और उसमें स्त्री–अस्मिता का पक्ष अनुस्यूत हो।

स्त्री–अस्मिता के इसी पक्ष को मनीष झा निर्देशित फिल्म 'मातृभूमि : अ नेशन विदाउट वुमन' (2003) अपना मूल विषय बनाती है। यह फिल्म खुद को साल 2050 में ले जाती है, और पाती है कि गांव में अब एक भी स्त्री नहीं बची है, सिर्फ पुरुष ही पुरुष हैं। इन पुरुषों को स्त्री की पूर्ण अनुपस्थिति में अपनी दैहिक भूख शांत करने के लिए अश्लील फिल्मों और लड़कियों की पोशाक पहनकर नृत्य करते लड़कों का ही सहारा रह गया है। ये पुरुष एक स्त्री को पाने के लिए किसी भी हद तक जाने को तैयार हैं। ऐसे में एक संपन्न पिता अपने पांच बेटों के लिए दूसरे गांव की एक युवा लड़की ढूंढ़ निकालता है और उसे खरीदकर उसकी शादी अपने बेटों से करवा देता है। ये पांचों बेटे और पिता भी प्रतिदिन अपनी–अपनी बारी से इस लड़की के साथ संभोग करते हैं। केवल सबसे छोटा बेटा ही इसमें लड़की को समझने की कोशिश करता है और अपने भाइयों द्वारा मारा जाता है। लड़की गांव के पुरुषों की आपसी रंजिश, राग–द्वेष और कलह का शिकार बनती है। उसे गाय के तबेले में खूंटे से बांधकर रात दर रात उसके साथ सामूहिक बलात्कार किया जाता है। यह फिल्म अंततः लड़की के गर्भधारण और उसकी होने वाली बेटी के अधिकारों के लिए आपस में लड़ते गांव वालों की हिंसा पर समाप्त होती है। फिल्म समीक्षक राहुल सिंह मानते हैं, "प्रथम.ष्टया यह फिल्म भ्रूण में शिशु बालिकाओं एवं नवजात बालिकाओं की हत्या और घटते लिंगानुपात को संबोधित जान पड़ती है, है भी। लेकिन इस मुख्य चिंता के समानांतर भी फिल्म में कुछ बातें हैं जिन्हें 'बाईप्रोडक्ट' मानकर छोड़ दिया गया है। मानव–सभ्यता के विकास के इतिहास में मानव समाज के वर्गीकरण के जो दो विश्वसनीय आधार उभरकर सामने आए हैं, उनमें से एक है आर्थिक आधार और दूसरा लैंगिक आधार।"[1]

'स्त्री–अस्मिता' एक ऐसी व्यापक अवधारणा है, जिसके तहत प्रत्येक स्त्री को उसकी शारीरिक और बैद्धिक क्षमता का विकास और प्रदर्शन तथा प्रयोग करने का पूरा अधिकार है। शिमित अमीन निर्देशित फिल्म 'चक दे! इंडिया' (2007) ऐसे ही सवालों से रू–ब–रू होती है। इस फिल्म के पटकथा–लेखक "जयदीप साहनी को इस कहानी का आइडिया न्यूजपेपर की एक छोटी–सी स्टोरी से आया था। वह अखबार पढ़ रहे थे और उसमें भारतीय महिला हॉकी टीम के 2002 के राष्ट्रमंडल खेलों में जीतने की बड़ी खबर

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-II, Issues-17, YEAR- Sept. -2020

को एक छोटी–सी जगह में लगाया गया था जो अखबार के पीछे के पन्नों में कहीं दबा दी गई थी। उन्हें हैरानी हुई कि कॉमनवेल्थ गेम्स जितनी बड़ी जीत को फ्रंट पेज पर जगह क्यों नहीं दी गई। यही 2004 में एशिया कप के साथ भी हुआ जिसमें भारतीय महिला टीम जीती थी। यही जीतें अगर पुरुष टीमों ने हासिल की होती तो जरूर उन्हें पहले पेज पर लगाया जाता। इस गैर–बराबरी को देखने के बाद 'चक दे! इंडिया' का जन्म हुआ।''[2]

'चक दे! इंडिया' फिल्म कई .श्यों के जरिए साबित करती है कि स्त्रियां किसी भी मामले में पुरुषों से कम नहीं हैं। इस फिल्म में एक जगह शाहरुख खान यह संवाद बोलते हैं : ''जो महिला पुरुष को पैदा कर सकती है, वह कुछ भी कर सकती है।''

इस सदी में सामने आईं मधुर भंडारकर की फिल्में 'चांदनी बार' (2001), 'सत्ता' (2003), 'पेज थ्री' (2005), 'कॉर्पोरेट' (2006), 'फैशन' (2008), 'हीरोइन' (2012) और 'कैलेंडर गर्ल्स' (2015) स्त्री–अस्मिता और स्त्री मुक्ति के प्रश्नों से निरंतर संवाद करती नजर आती हैं। इन फिल्मों में पितृसत्तात्मक सामाजिक ढांचे और पुरुषों द्वारा छली गई ऐसी स्त्रियों का चित्रण है जो इस संरचना और सोच को मुंहतोड़ जवाब भी दे रही हैं। लेकिन इसके बावजूद ये स्त्रियां फिल्म के अंत तक आते–आते पराजित–सी दिखती हैं। मधुर भंडारकर संभवतः मौजूदा सामाजिक संरचना की उस क्रूरता को इन फिल्मों के माध्यम से चित्रित करना चाहते हैं, जिनका सामना स्त्रियां जीवन भर करती हैं। वह बतौर एक फिल्मकार स्त्री–अस्मिता को अपनी ज्यादातर फिल्मों का केंद्रीय विषय तो बनाते हैं, लेकिन वह इस यथार्थ की उस सच्चाई को भी जानते हैं जहां स्त्री–मुक्ति अब भी एक स्वप्न और संभावना है।

'चांदनी बार' के अधिकांश पुरुष किरदार लगातार फिल्म की स्त्री चरित्रों से अभद्र भाषा और यौन–हिंसा के साथ पेश आते हैं। स्त्रियों के साथ पुरुषों का यह बर्ताव मधुर भंडारकर की अधिकांश फिल्मों का अनिवार्य तत्त्व है। 'चांदनी बार' में एक पुरुष किरदार तो एक स्त्री चरित्र की हत्या भी करता है। फिल्म की केंद्रीय किरदार (तब्बू) अपनी स्थिति से मुक्त होने की कोशिश में तब असफल दिखती है जब उसकी किशोर बेटी उसकी तरह ही बार डांसर बन जाती है और उसका किशोर बेटा हत्यारा। फिल्म में बार डांसर में बजने वाले हिंदी फिल्मी गाने समय के साथ–साथ आधुनिक होते जाते हैं, लेकिन वहां काम करने वाली स्त्रियों का समय पुरानी स्थिति में ही ठहरा रहता है। यह फिल्म केंद्रीय नायिका के इस वाक्य के साथ समाप्त होती है : ''अपने बच्चों में मैं अपना आने वाला कल देखना चाहती थी, पर मुझे उनमें सिर्फ अपना अतीत ही नजर आया, और मैं, मैं भी हजारों बियर बार की लड़कियों की तरह उस भीड़ में शामिल हो गई, जहां मेरा कोई वजूद नहीं था।''

'सत्ता' में राजनीति का सफर अकेले ही तय करने वाली नायिका (रवीना टंडन) है, तो 'पेज थ्री' में अपने पेशे (पत्रकारिता) की कटु सच्चाई जान चुकी नायिका (कोंकणा सेन) है, तो 'कॉर्पोरेट' में अपने आधुनिक मूल्यों के बावजूद पुरुष किरदारों के खेल का मोहरा बन जाने वाली नायिका (बिपाशा बसु) है, तो 'फैशन' में ग्लैमर वर्ल्ड के क्रूर और जटिल यथार्थ में फंसी सफल–असफल नायिकाएं (प्रियंका चोपड़ा, कंगना रनावत, मुग्धा गोडसे) हैं, तो 'हीरोइन' में फिल्म इंडस्ट्री में अपनी शर्तों पर अपना करियर बनाती नायिका (करीना कपूर) है, तो 'कैलेंडर गर्ल्स' में आधुनिकताबोध के बावजूद मॉडलिंग और ग्लैमर की दुनिया में शोषित–पीड़ित स्त्री चरित्र हैं।

मधुर भंडारकर की तरह सुधीर मिश्रा भी अपनी फिल्मों की नायिकाओं को सशक्त छवियों में प्रस्तुत करते आए हैं। 'चमेली' (2003), 'हजारों ख्वाहिशें ऐसी' (2005), 'खोया खोया चांद' (2007), 'ये साली जिंदगी' (2011) और 'इंकार' (2013) जैसी फिल्में इसकी मिसाल हैं।

''आपका अपने महिला पात्रों के साथ क्या रवैया रहता है?'' एक साक्षात्कार में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए फिल्मकार सुधीर मिश्रा कहते हैं, ''मैं उन्हें बहुत प्रोत्साहित करता हूं और उनकी गल्तियों का भी सम्मान करता हूँ। यह उनका अधिकार है। ...मैं कोशिश करता हूं कि महिलाओं की अंतहीन क्षमताओं को उजागर कर सकूँ। ...महिलाओं को भी आजादी का हक है, वहीं अगर वे चाहें तो घरेलू कामकाज करते रहने का भी उनको उतना ही हक है। उन्हें रूढ़िवादी छवियों का गुलाम बनने की जरूरत नहीं है।''[3]

इक्कीसवीं सदी के हिंदी सिनेमा में स्त्री की उपस्थिति को समान और सशक्त बनाने में अनुराग कश्यप, विशाल भारद्वाज, इम्तियाज अली, आर. बाल्की, गौरी शिंदे, विकास बहल, रामकुमार गुप्ता, आनंद एल. राय, सौमिक सेन, सुजीत सरकार और नागेश कुकनूर जैसे फिल्मकार अहम भूमिका निभाते हैं। इन फिल्मकारों ने लगातार ऐसे फिल्में निर्देशित और निर्मित की हैं जिनमें स्त्री–अस्मिता का दावा मुखर है। इन फिल्मों की स्त्री स्वप्न देखती हुई स्त्री है। वह आत्मनिर्भर और महत्वाकांक्षी हैं। वह पुरुष को अपना देवता या संरक्षक नहीं, साथी के रूप में स्वीकार करती है। विकास बहल के निर्देशन में बनी 'क्वीन' को अगर हम इस सिलसिले में देखें तो यह फिल्म ''स्त्री–स्वातंष्य

PIF/6.500 *ASVS Reg. No. AZM 561/2013-14*

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-II, Issues-17, YEAR- Sept. -2020

और स्त्री–अस्मिता से जुड़े पहलुओं को आधारभूत और जरूरी स्तर पर समझने की कोशिश करती है। यह एक आम लड़की के कमजोर होने, बिखरने और फिर संभलने की कहानी है। रानी नामक पात्र के माध्यम से फिल्मकार ने स्त्री की जिजीविषा और संघर्ष का बेहतरीन चित्रण किया है। जिस समाज में बचपन से स्त्री को घोड़े पर चढ़कर आने वाले राजकुमार के सपने दिखाए जाते रहे हों, उसमें अपने मंगेतर द्वारा ठुकरा दिए जाने पर उसकी क्या स्थिति होती होगी, समझा जा सकता है। रानी इसके लिए खुद को गुनहगार समझती है, आस–पड़ोस के लोग और रिश्तेदार उस पर दया दिखाने से नहीं चूकते। थोड़ा संभलने के बाद वह अकेले यूरोप घूमने जाने का फैसला करती है। वही रानी, जिसे पड़ोस की दुकान भी जाना होता तो उससे सात–आठ बरस छोटे भाई को उसके पीछे लगा दिया जाता था, यूरोप अकेले जाती है। रानी की यह यात्रा सिर्फ उसकी नहीं, हर उस स्त्री के अस्तित्व और मानवीय गरिमा की यात्रा है, जिसे पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने सदियों से 'चिर शिशु' बनाकर रखा है। 'क्वीन' इसी चंगुल से आजाद होने की कहानी है।"[4]

सौमिक सेन निर्देशित 'गुलाब गैंग' (2014) भी 'क्वीन' के साथ ही एक ही दिन सिनेमाघरों में प्रदर्शित हुई। 'गुलाब गैंग' की नायिका रज्जो (माधुरी दीक्षित) बचपन से ही अपनी सौतेली मां से इसलिए पिट रही है, क्योंकि वह पढ़ना चाहती है।

"उसने जीवन की पाठशाला में आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ा है और इत्तेफाक से यही पाठ 'क्वीन' की नायिका भी पढ़ती है। रज्जो इस नतीजे पर पहुंची है कि अन्याय आधारित असमानता से पीड़ित बीमार समाज में अधिकार छीनना पड़ता है और घुंघरू, पायल के बदले तलवार उठानी पड़ती है। वह हिंसा को न्यायसंगत नहीं मानती, परंतु लाख प्रार्थना करने पर भी बात नहीं बनती तो हथियार उठाती है। वह अपने समान दमित स्त्रियों का दल संगठित करती है। उसका बचपन से चला आ रहा सपना कस्बे में स्कूल की स्थापना करना है। इसी फिल्म में शहर की पढ़ी–लिखी श्रेष्ठि वर्ग के राजनैतिक परिवार की महत्वाकांक्षी और निर्भय महिला (जूही चावला) के हृदय में इस कदर लोहा समाया है कि उसने अपने नेता पति की हत्या करके उसकी राजनैतिक विरासत पर हक जमा लिया है। एक दलित स्त्री को लगता है कि स्कूल की स्थापना समाधान है, परंतु हम देखते हैं कि पढ़ी–लिखी मैडम साम, दाम और दंड की नीति अपनाकर सत्ता के माध्यम से अपने लालच को ही भरती है।"[5]

यहां हम देख सकते हैं कि 'गुलाब गैंग' में जेंडर का प्रश्न, स्त्री के मामले में, जाति से जुड़कर दुहरा हो गया है। ये दोनों ही स्त्रियां अस्मिता के प्रश्न पर एक साथ खड़ी हैं, लेकिन जातिगत अस्मिता के प्रश्न पर वे परस्पर शत्रु दिखती हैं, जहां उनकी आकांक्षाएं एक–दूसरे से टकरा रही हैं।

स्त्री–अस्मिता और स्त्री–सम्मान से जुड़े पहलू इक्कीसवीं सदी के हिंदी सिनेमा में कितने अनिवार्य हुए हैं, इसे इन तथ्यों की रोशनी में भी समझ सकते हैं कि कुछ वर्ष पहले केंद्रीय फिल्म प्रमाण बोर्ड के नए नियम में 28 शब्दों (हरामजादा, हरामी, हराम का पिल्ला, कुतिया, रखैल, साली, लेना–देना, बजाना... जैसे शब्द जो गली–गली में बोले जाते हैं) के फिल्मों में प्रयोग पर रोक लगा दी गई है। इन शब्दों का प्रयोग जिन पुरानी फिल्मों में भी हुआ है, उनके प्रसारकों को भी इसका ध्यान रखना होगा कि टी.वी. वी.सी.डी., डी.वी.डी. और इंटरनेट पर प्रदर्शन के दौरान इन फिल्मों में ये शब्द म्यूट किए जाएं।

इसके साथ ही केंद्रीय फिल्म प्रमाण बोर्ड ने एक और नया अधिनियम भी हाल के वर्षों में जारी किया है। इसके मुताबिक अब फिल्मों में स्त्रियों पर थप्पड़ नहीं उठाया जा सकता।

इन नियमों–अधिनियमों पर विवाद–विमर्श हो सकता है, लेकिन यह भी साफ है कि अब स्त्रियों की बदलती स्थिति के मुताबिक नियम–अधिनियम जोड़ने या बदलने पड़ रहे हैं।

अनिरुद्ध रॉय चौधरी की फिल्म 'पिंक' (2016) का तो जैसे यह केंद्रीय संवाद ही था कि लड़की की 'ना' का मतलब 'ना' होता है! यह फिल्म इस बात को स्पष्ट करती है कि अगर लड़की पार्टी करती है, रात को बाहर जाती है तो इसका मतलब यह नहीं कि उसके चरित्र पर सवाल उठे?

'पिंक'में तीन प्रतिनिधि स्त्री–चरित्र हैं। ये तीनों स्त्रियां भिन्न–भिन्न स्थानीयताओं से आकर दिल्ली में नौकरी कर रही हैं। पंजाबी, मुस्लिम और पूर्वोत्तर अस्मिताओं से आने वाली ये लड़कियां दिल्ली में एक साथ एक छत के नीचे रह रही हैं। एक रोज वे रॉक कन्सर्ट के बाद तीन लड़कों के द्वारा के एक रिजॉर्ट में डिनर का प्रस्ताव स्वीकार कर लेती हैं। यह प्रस्ताव उन्हें एक भयानक मुसीबत में डाल देता है। तीन में से एक लड़की उन तीन में से एक लड़के के द्वारा खुद को गलत ढंग से छुए जाना अनुभव करती है। इसके बाद उन तीनों लड़कियों से ये तीनों लड़के छेड़खानी की कोशिश करते हैं। इसी बीच आत्मरक्षा करते हुए एक लड़की एक बोतल से राजवीर पर हमला कर देती है, जो उसकी आंख में लगती है और खून

PIF/6.500 *ASVS Reg. No. AZM 561/2013-14*

ISSN NO.-2347-2944 (Print)
e-ISSN NO.-2582-2454 (Online)
Vol.-13, No.-II, Issues-17, YEAR- Sept. -2020

बहने लगता है। तीनों लड़कियां इस उम्मीद के साथ घर लौट आती हैं कि बात आई–गई हो जाएगी, लेकिन उनके लिए जिंदगी कठिन हो जाती है, जब तीनों युवक उन लड़कियों को बदनाम करने और डराने की कोशिश करते हैं। तीनों लड़कियों पर उस वक्त गाज ही गिर जाती है, जब छेड़खानी की कोशिश करने वाला राजवीर अपने ताकतवर लिंक्स का इस्तेमाल कर इनके खिलाफ प्रॉस्टिट्यूशन का आरोप लगाते हुए एफआईआर दर्ज करा देता है। इसके बाद तीनों को फरार होना पड़ता है और मुश्किलों की शुरुआत होती है।

मामला कोर्ट में पहुंचता है, जहां वकील दीपक सहगल (अमिताभ बच्चन), लड़कियों का केस लड़ते हुए कहता है कि लड़की का, ''नो एक शब्द नहीं, पूरा वाक्य है!''

हिंदी सिनेमा को इस मुकाम तक ले आने में उन स्त्री फिल्मकारों का योगदान भी बेहद उल्लेखनीय है जिन्होंने पुरुष–वर्चस्व से ग्रस्त हिंदी फिल्म इंडस्ट्री में अपने निर्देशन से खासी धमक पैदा की। इस कड़ी में कल्पना लाजिमी निर्देशित 'दमन' (2001), मीरा नायर निर्देशित 'मानसून वेडिंग' (2001), मेघना गुलजार निर्देशित 'फिलहाल' (2002), तनुजा चंद्रा निर्देशित 'सुर' (2002, रेवती निर्देशित 'फिर मिलेंगे' (2004), जोया अख्तर निर्देशित 'लक बाय चांस' (2009), नंदिता दास निर्देशित 'फिराक' (2009), अनुषा रिजवी निर्देशित 'पीपली लाइव' (2010), किरण राव निर्देशित 'धोबी घाट' (2011), गौरी शिंदे निर्देशित 'इंग्लिश विंग्लिश' (2012), रीमा कागती निर्देशित 'तलाश' (2012) और लीना यादव निर्देशित 'पार्च्ड' (2016) सरीखी फिल्मों के नाम लिए जा सकते हैं।

यहां प्रसिद्ध निर्माता–निर्देशक महेश भट्ट के उस कथ्य को भी याद कर लेना चाहिए जिसमें वह महिला फिल्म निर्देशकों से जुड़े किस्से सुनाते हुए कहते हैं, ''महिलाओं के हक की लड़ाई लड़ने वाली एक अभिनेत्री ने बताया, 'हम इंडस्ट्री में ढेर सारे लोग ताकत और मौत संबंधी फंतासियों के कारण आते हैं। हिंदी फिल्म इंडस्ट्री के पुरुष यह बर्दाशत ही नहीं कर पाते कि सशक्त महिलाएं अपना काम ठीक ढंग से कर लेती हैं।''[6]

महेश भट्ट के इन कथनों पर गौर करते हुए अगर हम इक्कीसवीं सदी के हिंदी सिनेमा को देखें तो उसने स्त्री–अस्मिता और स्त्री–आकांक्षा के संघर्ष को एक बाजारू समय में थोड़ी–सी ही सही, लेकिन एक उत्तर–आधुनिक जमीन दी है। स्त्रियां अब अपनी यौनिकता का इस्तेमाल ज्यादा बखूबी कर रही हैं। इस प्रसंग में वे अब अपने को शोषित कम स्वतंत्र अधिक दिखा रही हैं। वह हिंदी सिनेमा की दुनिया अपने सौंदर्य और उन्मुक्तता के बल पर अपनी मुक्ति की राह तय कर रही हैं। वह अब अपनी देह को एक उत्पाद की तरह नहीं, अपनी मुक्ति के हथियार की तरह बरत रही हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. अग्रवाल, प्रहलाद : हिंदी सिनेमा – आदि से अनंत... खंड–3, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, संस्करण : 2014, पृष्ठ : 55.
2. भाटी, गजेंद्र सिंह : https://www-thelallantop.com.
3. मिश्रा, सुधीर : 10 दिसंबर 2013, http:// tehelkahindi.com .
4. किरण, शिप्रा : हिंदी सिनेमा का बदलता मिजाज, जनसत्ता, 30 अगस्त 2015.
5. चौकसे, जयप्रकाशः परदे के पीछे, दैनिक भास्कर, 8 मार्च 2014 .
6. भट्ट, महेश : जागी रातों के किस्से (हिंदी फिल्म इंडस्ट्री पर अंतरंग टिप्पणी), संपादन :अजय ब्रह्मात्मज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2003, पृष्ठ : 146 .

*****

PIF/6.500 *ASVS Reg. No. AZM 561/2013-14*